असमाप्त यात्रा

☐ सत्यनारायण व्यास

प्रकाशक :
शिल्पी प्रकाशन
जयपुर

डा. कैलाश जोशी, आनन्द कुरेशी, मासूम नजर आदि का मुक्त हृदय से आभार व्यक्त करता हूं, जिनकी कद्रदानी से इस संग्रह की रचनाओं के साथ मेरा हौंसला बढ़ता गया।

अन्त में, इस संग्रह के प्रकाशन में वित्तीय सहयोग प्राप्त करने के निमित्त राजस्थान साहित्य अकादमी (परिवार), उदयपुर तथा इसे शीघ्र व कला-सुन्दर आकार में मुद्रित करने के लिए शिल्पी प्रकाशन, जयपुर के प्रति आस्था सहित कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

26.1.1986
डूंगरपुर (राजस्थान)

—सत्यनारायण व्यास

सिलसिला

वेदना का भील-नृत्य

काली रात
भयानक सन्नाटा
विचारों का मरघट धधकता है,
माटी की हंडिया-सा माथा
बूढ़े वरगद की डाल पर लटका कर
प्रेत-सा उन्मत्त मैं
वेदना का भील-नृत्य करता हूं ।

जलती चिता को ठोकर लगा
अधजली लाश बाहर खींच लेता हूं
देखता प्रतिबिम्ब उसमें,
ढूंढ़ता हूं नियति अपनी
अचानक तभी—
कलेजे की धड़कन को चीरता
चीखता एक चमगादड़
मेरा अवचेतन-घट फोड़ जाता है
और फड़फड़ाकर वह
जबरे वरगद की लम्बी जटा में
उल्टा लटक जाता है,
तब मैं और अधिक

२

शब्द के प्रति

शब्द,
तू कहां से चला ?
कहां तक चलेगा,
और चलता ही जा रहा है अनथक'
आकाश की असीमता से
कानों की संकीर्णता तक फैला
तेरा अनन्त यात्रा-पथ है ।

तेरे जन्म लेते ही
मानो,
आकाश कान में उतर आता है
या कान हो जाता है आकाशाकार ?
और इस अलक्षित गहन व्यापार में
केवल एक वस्तु रह जाती है शेष—
कांसे के थाल-सी झनझनाती ध्वनि
जो तेरा ही पद-चाप है
ओ मेरे कंठ के देवता ।

शब्द, कभी तू कंठ से झरता है निर्झर-सा
तो कभी फूल-सा खिलता है,
तो कभी धधकता है क्रान्ति के अंगार-पथ-सा

—कितना बहुरंगी शरीर तेरा।
कैसे करूं पहचान तेरी आत्मा को ?
मैं क्या कहूं ?
कैसे कहूं शब्द तेरे बिना
कि तेरी आत्मा क्या है।
क्योंकि, बोलता हुआ तो मैं तेरा अनुचर हूं,
मगर मौन हो जाने पर तो लगता है,
मैं तेरा दासानुदास हूं
ओ मेरे सम्राट,
तेरे कान्तिमान चरणों की सेवा
जीवन का एकमात्र सम्बल,
जब अवशभाव से
हो जाता हूं चंचल
रचना के पल में,
तब जाने कहां
किस सूक्ष्म विज्ञान से
मेरी कलम की स्याही में
घुल जाता है अमल धवल गंगाजल।

शब्द,
तू मेरा जन्मजात साथी है,
रोना, हँसना या पुकारना मां को
सब-कुछ तुझीं से संभव है,

सोचता हूं हजार बार
तुझसे भिन्न कहीं कुछ है क्या ?
तू ही तो है देह के भीतर लिपटे मन-सा
वह पहला और आखरी माध्यम
जो स्वयं सोचवाता है मुझे
संसार का हर कोण,
फिर तुझसे भिन्न वस्तु है कौन,
जिसे मैं तेरे बिना सोच सकूं
खोज सकूं ?
ओ विचारों का इन्द्रजाल फैलाने वाले जादूगर,
तेरी माया का कायल है कवि
तू उसके चिन्तन का, हो, न हो।

□

२

यहाँ कोई नहीं जगता

सिगरेट का कसैला धुंआ
जिन्दगी को--
अनुपस्थिति में परिभाषित करता है,
पीले ततैयों के मटमैले पंखों पर
गरमी की दोपहरी
बेकार भुनभुनाती है---
यहां कोई नहीं जगता।

नए युग-निर्माण के
बदरंग हुए ब्लू-प्रिण्ट
मखमली तकियों तले
मुड़-तुड़कर सिसकते हैं;
दस्तक है बेमानी,
घंटी का बटन व्यर्थ,
यहां कोई नहीं जगता।

किसी गहरी नींद ने खरीदा है
मानव की ताकत को—
कौड़ियों के भाव,
सीख लिया लोगों ने
लंबी-तान भर लेना

अपना अपना आमाशय-जिसको जो मिल जाये,
नोटों के बण्डल,
रोटी के टुकड़े,
सोने के बिस्किट,
फटे-गले चिथड़े-जिसको जो मिल जाये—
खुला संघर्ष जारी है—
घुस जाओ,
खींच लाओ-जिसको जो मिल जाये,
झिझको मत,
डर किसका,
रक्षक सब सोये हैं—
चीखो या चिल्लाओ,
हुल्लड़ करो, नाचो-गाओ,
पचाओ गला-यहां कोई नहीं जगता
कोई नही सुनता।

४

मेरा स्वरूप

सड़क बीच सड़ता
मरण वरता
यमलोक गमनातुर हूं
मैं छटपटाता कुत्ता—
निर्बन्ध चिन्मय ब्रह्म की ही
झिलमिलाती ज्योति-सत्ता ।

फुटपाथ पर,
तन भूख-प्यास
नग्न-निःसंग, सोया पड़ा
अचल ध्यानलीन रहता मैं,
क्रीड़ारत रहता हूं
मैं ही—
चपल मूर्त कंपन में ।

दुःख-सुख दो हाथ मेरे
घर्षरत चिर
जन्म-मृत्यु की सांस
आती-जाती है—
मेरे विराट विश्व-वक्षस्थल में ।

मैं नवदम्पति का राग,
नाग विषयों का
सहजभाव यौवन को डसता हूं,
किन्तु उतार उसे देता हूं सहर्ष,
निज अनर्थ मस्तक-मणि
जो कराल पण पर मेरे
नट-नागर-सा विजय-नृत्य करता है।

निर्धन का चित्कार
धनिकों का अट्टहास मैं कर्णभेदी हूं,
सम्राट हूं चक्रवर्ती
विराट भूमण्डल का,
क्षुद्रतम कीड़ा हूं—
पड़ा विष्ठा में
कुलबुलाता रहता हूं।

अपनी ही ईक्षा से
आत्म-विस्तार हेतु
मकड़ी ज्यों जग-जाल बुन लेता हूं,
पलता हूं जठर में जननी के
ढलता हूं उष्ण तरल मदिरा बन यौवन में,
अस्थिशेष जल जाता हूं—
चिता पर शान्त मरघट में।

□

५

शिव की बारात

गिद्धों को मांस की रखवाली सौंपना
मेरे देश का हो गया स्वभाव,
अराजकता का अर्थ
अब हो गया है "व्यवस्था"।

नाबालिग आजादी और बूढ़े भारत के
इस अनमेल विवाह में
हम सब बाराती हैं परेशान
परस्पर कोसते हैं
मन मसोसते हैं,
यहां तक कि स्वार्थ के निरन्न जंगल में हम
एक-दूसरे का नर-मांस खाने की सोचते हैं,
इधर, हमारा बूढ़ा वर भारत
सिर धुनता है,
नाबालिग स्वराज-बाला का कंपित कर छोड़ संमय
फिर से गुलामी, यानि समाधि के—
स्वप्न-जाल बुनता है।

एक थुल-थुल, दूसरा कंकाल
तीसरा लाल-नयन क्रोधी है,
प्रेतों के झुंड हम

सदाशिव भारत की बारात के
अमंगलकारी गण नहीं तो क्या हैं ?

सत्य, अहिंसा और मानवता की सुन्दर परियाँ
विश्व के झरोखों पर बैठीं
हम पर थू-थू करती हैं,
हमारी शक्ल तक से वे नफरत करती हैं—
भला हम कब ऐसा गणवेश छोड़ेंगे ?
शक्ति के कथित कोरे उपासक हम,
शायद अपने ही भाई का
लहू पीकर छोड़ेंगे।

सदाशिव वृद्ध भारत की इस बारात में
हिन्दू हैं, मुस्लिम है,
क्रिश्चन और खालसा हैं,
मुझे दुःख है कि आजादी पार्वती,
जो बहुत नाजों से पली है,
हमारे बूढ़े राष्ट्रदेव को फटकारती है—'
"कहाँ से ये निखट्टू, सड़ियल, बत्तमीज
गन्दे बाराती घेर लाए हो,
जिन्हें तमीज से जीना,
धीरज और शान्ति से साथ चलना तक नहीं
आता है,

आप मेरे सुहाग हो, और रहोगे,
पर आपकी इस बारात पर लानत है।"

—टूटे सींग के संविधान-बैल पर बैठे महादेव
आज शर्म से पानी पानी हैं,
किन्तु हिमालय की गोद नहीं है यहां,
शर्म की बाढ़ में गले तक डूबी
निर्लज्ज राजधानी है,
संसद भवन है कि हिचकोले खा रहा है,
हम सभी झगड़ालू भूतगण
बचने का सहारा ढूंढ़ते हैं,
मरते-डूबते भी अपने हाथ लम्बे करके
एक-दूसरे का सिर मूंड़ते हैं,
बूढ़े बैल पर बैठे भोले भंडारी
"अनुशासन" का शृंगी-नाद कर रहे है
और त्रिपुर सुन्दरी आजादी
भौंहों में बल डाले
मुंह मोड़े रूठी खड़ी हैं।

बारातियो,
यह बेला—
हमारे जीवन के आराध्य के
राष्ट्रदेव के मानापमान की नाजुक घड़ी है,

मादक लीला का लिए ध्येय
भव में चिर-नव सा रमा हुआ,
तू ललित हिरण्मय-सा भुजंग
बन जन-समाज का कंठहार
निज गड़ा गरलमय क्रूर दंष्ट्र
पी स्वस्थ रक्त
कर दंश
सभी कुछ ध्वंस।

तू कहां छिपा रे कुसुमायुध ?
मन में, कुच बिच ?
कच में ? या शशिमुख में ?
या अपांग की नील पलक में ?
अधर किसलयों के पीछे
या चिबुक गर्त में ?
अथवा स्मर तू नाभि-कन्दरा में सोया है ?
बतला तो दे कहां छिपा तू
खोज-खोज कर हार गया संसार
अपलक रहा निहार
न पारावार।

शोणित 'उद्वेलक, विवेक-हर
छली, तस्करों के पारंगत

७

कौन जाने

पेड़ तले बाबा की धूनी
कितनी उदास है,
बित्ते भर कौपीन में
कितना विलास है—कौन जाने ?

धूनी की राख में
चिमटा गड़ा क्यों औंधा,
धीमे धीमे सुलग रहा
क्यों लक्कड़ का बोटा—कौन जाने ?

उलझी जटाओं मे जीवन उलझाए
आंखों में लाल डोरे
भसमी रमाए,
शंकर का रूप धारे
जाने किस गिरिजा पर
टकटकी लगाए है—कौन जानें ?
गाँजे के दम में
चिलम उर्वशी बनी है
जाने कहां खो गया रे
बाबा का उदास मन—कौन जाने ?

□

८

घेरों के बीच

घूमते पंखे के वृत्त-सी दुनिया को
किधर से पकड़ूँ ?
ठोस वस्तु भी शून्यता का धोखा है।
वृत्त जीवन का—
नजर के वृत्त में सीमित,
नजर के पार—
पार जीवन के—
अनजाना अनदेखा कोई दूसरा वृत्त
अपने भीतर अनेक वृत्त लिए चलता है।

घेरों में घिरी बेबस जिन्दगी,
घेरों पर घेरे बनाती चली जाती है,
परमाणु-भेदन से बिखरते
इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोन की तरह,
टूटन से सृजन,
फिर सृजन से टूटन—
धरती के गर्भ में छिपा
करोड़ों वर्ष पुराना यह द्वन्द्व
भीतर ही भीतर
धड़कते कलेजे में

पत्थर के अन्तर में
स्वचालित है ।

पानी-सा बहकर वर्फ में बदल जाने
या जीवन में गलकर लाश में ढल जाने में
फर्क कितना है ?
सिर्फ इतना—
कि पानी खुद को नहीं पीता कभी,
मगर हम दूसरों को पी जाने के चक्कर में,
खुद को भी निगल जाते हैं,
और यह हादसा
महज इन्सान के साथ होता है,
फिर चाहे रोता रहे वह या हँसता,
जो हो चुका एक बार जिस रूप में
वह फिर नहीं होता ।

वे तमाम इशारे,
खुबसूरत नजारे,
महज—
माटी से महकते बदन के सहारे ।
देह को निरन्तर खोलती-बांधती माटी की गंध
फूलों को सहलाते तितली के पंखों पर
रंग छिटका कर
कटे बबूल के बदसूरत ठूंठ में लुप्त हो जाती है,

अभी सुन्दरता की परिभाषा पर
बहसें बाकी हैं,
क्योंकि ऐन्द्रिक अनुभूतियां
सौन्दर्य के नमूने की बाहरी झांकी हैं।

मरघट की मुलायम राख
जब बवंडर के कन्धों पर बिफर जाती है,
तो लगता है,
नीले आकाश नीचे
तन गया है दूसरा धूसर आकाश।

बात यह कि हम कुछ भी न बन पाने की पीड़ा में
सिर्फ बनते हैं,
काले छाते-सा खाली
घमंड से तनते हैं,
सिर बचा ले जाते हैं पानी से
मगर भीग जाते हैं घुटनों तक मय वस्त्रों के,
छाते का वह टीसता अधूरापन
बूंद बूंद रिसता है, गीले कपड़ों से
सूख जाने तक।

सर से एड़ी तक चक्कर लगाते
खून के लाल घेरे से

जन्म लेता है चिंता का काला घेरा,
फिर उसमें से निकलते जाते हैं बहुरंगी—
कई और घेरे—
तेरा/मेरा/इसका/उसका
न जाने किस-किस का—
हर आदमी के चेहरे पर
तनावों का भिन्न भिन्न घेरा है,
वैज्ञानिक मानव के
महामानव होते जाने का
यह कैसा धुंधला सवेरा है ?

□

९
सबसे बड़ा सत्य

दीपक की स्वर्णिम लौ पर
प्राण होमने वाले पतिंगो,
यह चमकती इठलाती लौ
जिस पर तुम पागल हो,
मर मिटने को आतुर हो,
—का आधार
मिट्टी का एक दीपक है,
क्योंकि,
सबसे बड़ा सत्य मिट्टी है।

परिवार के जाले में
मोहग्रस्त मकड़ी से झूलनेवालो,
यह मत भूलो
कि सबसे बड़ा सत्य राष्ट्रभक्ति है।

वह कुँआ
जिसमें मेंढ़क फूला फूला तिरता है,
समुद्र नहीं हो सकता।
काश, उसकी ओछी छलांग
ऐसा बल पा जाय
कि वह गरीब मेंढ़क

सदियों पुराने कूप से बाहर आ जाय,
क्योंकि
सबसे बड़ा सत्य जड़ता से मुक्ति है।

अणु में पहाड़ से भी
सौगुनी ताकत है,
एक ही चिनगारी दुनिया की कयामत है,
छोटे हो, अकेले हो,
पर चिन्ता किस बात की,
जब बेटे हो सिंह के,
सबसे बड़ा सत्य, खुद पर विश्वास है।

□

भूमा

मैं भूमा हूं
शून्य में छायी विचार-सत्ता।
क्षितिज से भूमिका
जब विहंगम दृश्य देखता हूं—
असंख्य खाली आमाशय मुंह फाड़े
केंचुए-से कुलबुलाते,
अगणित जोड़ी आंखें
आंसू ढारती हुयीं,
सैंकड़ों मरघटों से उठतीं
उर्ध्वमुखी लपटें,
सड़कों और गलियों में
रेंगती मनुष्यता—
और इन सब के माथे पर छायी हुयी
भयानक निस्तब्धता;
क्रन्दन और हाहाकार को दबाता
मौत का फौलादी चादर,
और उस चादर को चीर कर
ऊपर निकलती मानव की संकल्प चेतना
कौंध जाती है अन्तरिक्ष में
बिजली-सी। □

११

फर्क

जहाँ—
उभरे वक्ष को मधुकलश मान
मत्त हो जाते हो तुम,
वहाँ—
मैं झरती दुग्ध-धार देख
गद्गद् नतमस्तक हो जाता हूं,
कि यही तुममें और मुझमें
फर्क भारी है।

जहाँ—
झपटकर कौर किसी निर्बल का
अट्टहास करते हो तुम,
वहाँ—
मेरा हृदय सिसक-सिसक रोता है
यही तुममें और मुझमें
फर्क भारी है।

जहाँ—
कचरे-सा भार समझ
वृद्ध चरणों को,
कूड़ा-घर में छोड़

मादा को साथ लिए उड़ जाते हो तुम,
वहाँ—
मैं उन चरणों को आँसू से धोकर
शीश झुकाता हूँ,
तुम भगोड़े हो
मैं जीवित शहीद हूँ
बस यही तुममें और मुझमें
फर्क भारी है।

□

१२

बारिश का संगीत

थम गयी बारिश
खुल गया नीला धुला आकाश,
सतरंगी चमकीली किरणों की छांहों में
लुक-छिपकर झूमती
प्रस्फुटित गद्‌गद् हरी कचनार डाली
पास उड़कर गुजरती
नन्ही-सी चिड़िया को बुलाती है—
"आ, ओ सुनहले पंखवाली परी,
निकट आ,
हवा की गोद में हम खेल खेलें,
ले ले तू मेरी हरियाली
पर उड़ना तो सिखा दे,
तू चहक, मैं नाचूं
सृजन के गा आदिम स्वर तू
मैं प्राणपण झूमूं
चूमूं तेरे पर सुनहले गगनचारी
चोंच से तू लाल मेरे दल खिलादे।"

सुनता रहा झिंगुर गीले ठूंठ से चिपटा
सुनता रहा—

"क्या करूँ ?
किस तरह तोड़ूं सुनहला रिश्ता ?
हर डाली, सुनहली चिड़िया मिलें,
मिल नाच खेलें ?
फिर मैं कहाँ, क्यों हूं यहां इस ठूंठ पर ?
दाह, शीतल दाह,
चाह, कर दूँ भंग यह स्वप्निल मिलन का खेल।"

—झाड़ के भीतर छिपा जुगनू
निकल बाहर आ, लगा बेवक्त समझाने—
"मत जलो झिंगुर,
खुद ही भस्म हो लोगे,
सौन्दर्य का साम्राज्य शाश्वत
मिट नहीं सकता
काल की कर पालकी
जो सृष्टि में खुलकर विचरता,
प्रलय की तम-ज्योति सामासिक घटा के
गर्भ में घुल घूमता
पर लय न होता।"

गंभीर हो झींका झिंगुर
"हुआ फीका स्वाद जी का
किस तरह खुद को मनाऊं ?

चिड़िया न बना,
तितली न बना,
डाली न बना, फिर क्यों जीवन ?"
ज्योतिहास्य जुगनू बोला—
"तुम भ्रम में हो,
हो भेद-भार
मानो मेरी,
मैं सच कहता
तुम हो चिड़िया
तुम ही डाली
झिंगुर तुम ही
मैं जुगनू तुम
तुम सब, सब तुम
सुन्दर चेतन, चेतन सुन्दर
जीवन हर जड़
जड़ जीवन घर ।"

□

अध्ययन

मैं अध्ययनरत हूं—
मेरे पड़ोस में
सास-बहू नहीं बोल रही,
युग बोल रहा है।
मूल्यों की चीखों और आस्था की सिसकन से
मेरा चिरंतन ध्यान टूट जाता है,
छूट जाता है पल्ला विचारों का
शून्य में ताकता रह जाता हूं।

सामने की पुस्तक है युग-मंच
जिस पर सास और बहू
जीवन्त अभिनेत्रियों-सी उतरती है,
समय नाचता है,
संवाद खड़कते हैं,
तीखे स्वर-यंत्रों का नाद-बोध
अलसाए भविष्य के कान खोल जाता है—
मेरा ध्यान डोल जाता है,
तब भी मैं अध्ययनरत हूं।
कोसना, भींकना और उछालना—
अपने अर्थ पा गए हैं,
मुझे अफसोस है कि उनके बोलते-बोलते

झाग आ गए हैं;
वाग्देवता प्रसन्न हैं
फिर मैं किस कारण उदास हूं ?
मेरी यह उदासी
समय के त्रस्त चेहरे पर
भय-रेखा बन गयी है,
अतीत और वर्तमान के बीच
यह कैसी ठन गयी है ?
मैं चश्मदीद गवाह
इस हादसे को पेट में समेट कर
कहाँ जाऊँ ?
लो, सर्वथा निरंकुश हो गया अविवेक
अब हाथ छोड़ बैठा,
स्नेह ? —
वह तो पाताल की एड़ी तले पैठा,
ओफ्, यह कलह तो निर्लज्ज किसी मिनिस्टर-सा
धधकती छातियों के डाक बंगले में,
बड़ी चैन के साथ,
जागता हुआ लेटा है—
मैं उसी को पढ़ रहा हूँ—
पुस्तक तो बहाना है।

१४

अहसास

मदमाती रात के जलते ही
बत्ती गुल हो गयी,
दस गुणित आठ के कमरे में
हाथों को बतियाते देख,
मुंह बन्द हो गए।
रह गयी कुछ अस्पष्ट, अव्याख्येय ध्वनियाँ—
साड़ी की सरसराहट,
चूड़ी की खनक,
गाल पर गरम साँसों की भनक—
रोमांच के जंगल में
स्पर्श की हवा बहती है—
कुछ ऐसा है,
जो कहा नहीं जा सकता,
जो न शब्द है, न अर्थ
न ही ध्वनि,
फिर भी कुछ है जो बराबर महसूस होता है,
महसूस,
सिर्फ महसूस।

□

१५

आत्म-चिन्तन

वह बचपन—
जब कपड़े का अर्थ
तन ढँकने से था,
वह बचपन—
जब भोजन का अर्थ पेट भरने से था
और वह बचपन—
जब गीले आंचल का मतलब था
दूध की गंगा में नहाने से,
उसे लौटा दे री
ओ मेरी जवानी।

वह बचपन,
जब गुलाबों पर
गुलाबी पांव धरता था,
और यह जवानी
कि अंगारों पर लोह चरण धरता हूं,
काल की भट्टी में तप कर
मेरी वह कोमल गुलाबी देह
कैसी तो कठोर हो गयी है;
पर मन तो वही है फूल-सा

हंसता और विलकता रहता है,
देह के कंटीले तकाजों से
अपने गुज़ाती मन को हर वार बचाया करता हूं,
बचपन को जवानी से तुलना कर मन ही मन
अपने से आप लजाया करता हूं।

१६

कौन-सी माँ

हाथ में सिगरेट लिए
टाइट-सी जीन्स पहने
आधुनिक 'मदर' को देख,
जाने क्यों मुझे—
हर दो मिनिट बाद सिर का आंचल संभालती
वह माँ याद आ जाती है।

एक माँ यह,
जो डाइनिंग टेबिल पर मेरे लिए
ब्रेड और वोर्नवीटा मिल्क
महंगी क्रोकरी में सजाती है,
और दूसरी माँ वह,
जो हंसती-गुनगुनाती
चूल्हे पर गरम नरम
फुलके उतारती है,
मैं कौनसी अन्नपूर्णा का प्रसाद पाऊँ ?
एक माँ है,
जो मुझे—
जबरन छाती से उतार कर
पहियों वाले वॉकर में बिठा,

सुबह-शाम—
शहर की गन्दी सड़कों पर डुलाती है,
और दूसरी माँ—
मेरे छोटे-से मुंह में मोटा-सा पयोधर धर
धार धार दूध पिला,
आंचल की छाया में सुलाती है,
मैं वॉकर में चौंकता हूं,
आंचल में सोता हूं।

आठ वर्ष का हो गया
तो क्या हो गया?
यह माँ मुझे अपने ही घर से निर्वासित कर
किसी कान्वेंट में कैद करा
सैंकड़ों रुपयों का मनीऑर्डर करवाती है,
और यह माँ—
खेत से लौटती
शाला की पगडंडी के बबूल की छाया में बैठ,
अपने नन्हें सूरज को
कलेवा लिए बाट जोहती है;
एक मुझे मेनर्स सिखाना चाहती है,
दूसरी, ममता का मर्म समझाना,
मैं जीन्स ढंके पांवों में

लिपटने से डरता हूं,
और आँचल की छाया को
सबसे सुरक्षित समझता हूं ।

एक तरफ मेरे गाल पर
धमकी के साथ है "हैलो" का पीला-सा खोखला संबोधन,
दूसरी ओर—
प्राणों में पौरुष फूंकनेवाला
आँसू भरे अधरों का ममतामय चुंबन है,
मैं ठगा-सा सोचता हूं—किसको स्वीकार करूं ?

जब कभी होता हूं नींद में,
नन्ही पलकों में स्वप्न लिए
प्रार्थना करता हूं,
"हे भगवान, मेरी माँ को माँ ही रखना
मदर मत बना देना,
अन्यथा,
टिंकू, रिंकू, पिण्टू और चीटू के
इस अजनबी मेले में मुझे,
प्राणों का व्याकुल प्यार भर,
मुन्नाराजा कह कर कौन पुकारेगी ?

□

उनके गालों ने जो लौटा दी मेरी नजर
उसे दिन की तिजौरी में धर लिया मैंने,
उनके बालों ने जो भेजा है खुशबू का तोहफा
झपटकर बदन पर मल लिया मैंने,
उनकी अदाओं में उलझा
फुटबोल–सा मन मेरा लुढ़कता रहा मगर,
उनके उभारों की तलहटी में घर लिया मैंने।

१ घर—
जहां मैं मोम–सा पिघलकर ढल गया हूं,
जन्मों से अटल होकर भी पल–पल मचल गया हूं,
मनुहारों से रूठा
पीठ फेरे बैठा,
फिसलन भरी ज़मीं पे गिरते–गिरते संभल गया हूं,
गिरना मेरी नजर में
चढ़ने से कम नहीं,
बहना मेरी नजर में,
तिरने से कम नहीं,
हादसे को झेलो या सांपों से खेलो,
जो होना है, होगा, मुझे गम नहीं।

उभारों के साये में जो ठंडा-सा घर है—
जाने कितने जन्मों से रहता हूं मैं,
मजबूरन निकलता हूं,
दिनचढ़े आखेट को—
संघर्ष की चिनगारियों को सहता हूं मैं,
अंगारों पर चलता हूं,
लपटों में जलता हूं,
शाम ढले घर जानिब पलटता हूं मैं—
तो लगता है फूलों के ढेरों में आ बैठा,
दूध के झागों की शय्या पर आ लेटा,
कैसी है कोमलता—पल में सब दुख मेटा,
लेटा था, लेटा हूं, लेटा ही रहूं,
घर का जो सुख है, वो कैसे कहूं ?
शब्दों के बाहर है,
चेहरे से जाहिर है,
घर-सुख के क्तरे पे सब-कुछ सहूं,
यह घर ऐसा मेरा
जिसने दुनिया को घेरा है,
मैं दुनिया में,
दुनिया का मुझमें बसेरा है,

सबका घर एक है,
लगता, अनेक हैं;
ओ मालिक, हर घरवासी
इन्सान तेरा है।

□

१८

अनादि पुरुष

यज्ञवेदी के अभिमंत्रित सोमरस में
बकरे का रक्त घोल देने पर
बड़बड़ाते खुमार-सा
जन्मा था मनुष्य—
चिन्तन में देवता
कर्म से पशु आज तक
वह इसी कारण है।

दंभ-तने ललाट-पर्वत पर
उभरी नील नदियों के पास
ज्वालामुख आंखों में
दहकती हिंसा का इतिहास ज़ारी है
कौन वह अज्ञात प्रचंड सत्ता अखंड मस्ती में
काया की चिकनी स्लेटों पर
भय, हिंसा और वासना की
खूनी इबारतें लिखती हैं ?

नीली शिराओं
लाल डोरों,
भुज-विचलित मछलियों
लोह जंघाओं, और

बिजली-से कड़कते भाल टूट में प्रक्षिप्त
ऊर्जा का भीषण वेग
संभाल नही पाता बेचारा मनुष्य
इसीलिये। वह
जीवन भर यात्रारत रहता।

सिद्ध सन्यासी हो महायोगी
या अनपढ़ अज्ञानी मजूर
सभी उस अनजानी भीषण ऊर्जा से धकियाये
ब्रह्मांड-बेटी धरती के
मटियाले आंचल पर
दौड़ाए, लड़ाए
मिलाए और बिछुड़ाए जाते हैं।

हिमालय की तलहटी हो
या मिश्र, यूनान, जापान की धरती—
मां के पयोधर से
मौत की ओर धकेला गया मानव
मादा के उरोजों पर लुढ़क-लुढ़क पड़ता है,
बावजूद इसके
आते कुछ अपवाद भी
वे पाषाण-भेदी द्रष्टा
जो भंग कर प्राकृतिक व्यवस्था को

सर्वत्र माँ की
एक अनादि सत्ता की
निष्कलंक दुग्धगंधी छटा ही
देखते दिखाते हैं,
मगर भूल जाती जल्द
यह जन्मजात ठोठी दुनिया
वह पाठ जो सिखाते हैं।

अब तो—
बची है शब्द-परे बेचैनी
एक बलखाता इन्तजार,
ऐसे विलक्षण हंस का—
जो आएगा,
अवश्य आएगा धरती पर
और बजाय दूध से पानी छांटने की
रस्म निभाने के,
वह सोमरस में घुले
बकरे के रक्त का कतरा-कतरा
अलग कर देगा।

□

चिल्लाओ मत

मेरे भूखे-प्यासे देशवासियों,
इतना चिल्लाते क्यों हो ?
कुछ बरसों इन्तजार करो—
पीने का पानी ग्राता-ग्राता ही ग्राएगा,
और रोटी ?
रोटी तो तुम्हें,
तुम्हारा पुनर्जन्म ही दिला पाएगा।

वैसे तुम,
पुनर्जन्म ग्रौर कर्मफल के विश्वासी
ऋषियों की संतान हो,
उस अपर्णा पार्वती के तपस्वी पुत्र हो,
तप करो ?
ये तुम्हारे तपने के दिन हैं—
भूख-प्यास, सरदी-गरमी ग्रौर बरसात
सहने के दिन हैं ?
माँ पार्वती ने शिव को पाने के लिए
पत्ते तक खाना छोड़ दिया था,
तुम जड़ें ग्रौर पत्ते तो खाते हो,
फिर भी चिल्लाते हो ?

आखिर, यह विकास की लम्बी योजना है,
जो उलझ गयी है जेबों में,
सुलझाने में इसे, कुछ सदियां तो लगेंगी,
तुम लोग तो पीहर जाने वाली
नयी बहू की तरह अधीर हो,
पर आगे-पीछे रहना तुम्हें ससुराल में है,
वह शानदार ससुराल,
जो काली सलाखों के पीछे है,
जब भी तुम जरूरत से ज्यादा चिल्लाते हो,

तत्काल—
एक फर्स्टक्लास नीले वाहन में बैठाकर
वहां पहुँचा दिए जाते हो?
शुक्र है, तुम जी रहे हो,
आंसू ही सही, कुछ-न-कुछ तो पी रहे हो,
तुम क्यों नहीं उस व्यवस्था के गुण गाते हो,
जिस व्यवस्था में तुम,
अकाल राहत मजदूरी के
ग्यारह रुपये की रसीद पर अंगूठा कर
पांच रुपए साठ पैसे लाते हो,
फिर भी चिल्लाते हो ?
जिन्हें सुनाने को तुम चिल्ला रहे हो,
वे तो राजभवन में शपथ लेते ही

कभी के बहरे हो गए,
हम क्या करें भाई
जो तुम्हारे दुखते घाव गहरे हो गए ?
तुम्हीं ने तो दारू के पौवे के बदले वोट दिया था,
अब भुगतो,
चिल्लाने से क्या होता है ?
अरे वो सुनेगा कैसे तुम्हारी आवाज
जो जागता हुआ भी सोता है ?
यह तो है तुम्हारी तपस्या का काल,
खाल हड्डियों से चिपट गयी
और बैठ गए हैं गाल,
सचमुच तुम महर्षि दधीचि की टू-कॉपी लगते हो
उन्होंने स्वर्ग के शासक इन्द्र के वज्र हेतु
अपनी अस्थियां दे दी थीं,
तुम भी अपनी हड्डियां
लिख दो किसी फर्टीलाइजर कम्पनी के नाम,
क्योंकि
तुम्हारी हड्डियों का खाद
जब देश के खेतों में गिरेगा
तो अनाज का उत्पादन बढ़ेगा,
तुम्हारा यह त्याग भूला नहीं जाएगा,

मैं गारन्टी तो नहीं देता,
मगर आश्वासन देता हूँ
कि तुम्हारा नाम
देश के इतिहास में
रक्त अक्षरों से लिखा जाएगा।

□

फौजी और नेता

वह भाई
जो बोर्डर के बर्फ में बंदूक लिए लेटा है,
बहनों के सुहाग का रखवाला है,
वह भाई—
उस अकारण राक्षसी विध्वंस को
चट्टान बन रोकेगा,
जो कल उस पार से आनेवाला है।

सनसनाती बरफीली रात में
तिल-तिल कर उसके गलने से
मेरे उदास दिल में दर्द का एक उबाला है,
अरे उसी के अंधेरों से टकराने के बल पर तो
आज इस देश के कोने-कोने में उजाला है,
ये उजली पोशाकें
इतराना जल्द भूल जाएं तो अच्छा,
वरना खाकी वरदी में छिपा उस भाई का चौड़ा सीना
कसमसानेवाला है।

कोहनियों के बल औंधे लेटकर
निशाना साधे

जिसके अंगों से रक्त छलक आया है,
उस भाई को अनदेखा कर, भूल कर
उसी के बलबूते पर
प्राणों का बीमा भर
तुम ये धौली टोपियां लगाए घूमते हो।

वह भाई,
बैरक की गीली माटी में लेटा
संगीन को सीने से लगाए
शादी की उस एक मात्र रात को
याद किया करता है,
और तुम ?
और तुम उसकी फूल-सी इन गुलाबी यादों को
घिस-घोलकर पीकर किसी डाक बगले में—
स्कॉचकी बोतल और कॉल-गर्ल का इन्तजार करते हो।
और कुछ देर के बाद,
अपने गुंडाई तत्वों के बीच बैठ
गरीबों के वोटों को
समेटने की योजना पर विचार करते हो ?
ठीक उन्हीं क्षणों में,

बोर्डर के बर्फ में लेटा
दुश्मन को रायफल की रेन्ज में बांधे
वह भाई—
तुम्हारी इन करतूतों के औचित्य पर
बारीकी से विचार कर रहा होता है।

□

२१

संकल्प और विकल्प

कहां तो सारे देश के भ्रष्टाचार को
निर्मूल करने का संकल्प,
और कहां यह व्यक्तिगत पचड़ों का व्यवधान.....?

—चिन्तन की इस अस्थिर तुला में बैठे
तुम झूलते ही रहना मित्र,
मैं तो अपने कर्त्तव्य पर डटता हूं,
तुम वहमों का जाल बिछाकर
स्वयं उसमें उलझते रहना,
मैं तो मौन,
सामने के लक्ष्य—पर्वत पर चढ़ता हूं ?

बढ़ता हूं उस नग-शिखा की ओर
जहां से तुम मुझे बौने नजर आओगे.
अपने कान खोल रखना बन्धु,
पहाड़ की उस चोटी से तुम्हें आवाज दूंगा,
तब तुम अनसुनेपन का अभिनय मत करना

वरना—
तुम्हारा यह कमजोर मसखरापन
आत्महत्या के हादसे को न झेल न सकेगा

और तुम,
सृष्टि के महानतम जीव
"मनुष्य" होकर भी
न धरती के रहोगे, न आसपास के,
ठीक हाथी के पाद की तरह
शून्य में विलीन हो जाओगे।

□

२२

जीवन और मौत का गणित

मेरे जीवन के गणित में हैं अगणित सवाल
जैसे किसी उदास हिप्पी के उलझे हुए बाल,
सवालों के जवाब में मिले हैं सवाल,
इन सबका एक ही और वह भी बेमिसाल—
उत्तर अगर है तो केवल मौत ?

मौत—जो दुनिया के सभी सवालों का
आखरी जवाब है,
मगर मैं कहता हूं कि मौत
इस हरी-भरी दुनिया का सबसे बड़ा सवाल है—
जिसे नहीं कर सके थे हल,
हजारों हिटलर और सिकन्दर
लेकिन जिसकी परतें खोलकर रख गए हैं हमारे सामने—
कृष्ण, मुहम्मद, ईसा और बुद्ध—
उनकी मौत इंसानियत की जिन्दगी बन गयी,
और उन हिटलरों की जिन्दगी,
हजारों निर्दोषों की मौत बन गयी।

जिन्दगी और मौत का यह खेल
मेरी कविता अपने में—
जिन्दगी और मौत का खेल बन गयी है,

खेल जो मनोरंजन नहीं,
गहरी काली उदासी पैदा करता है,
मेरे रोम रोम में भारी अंधेरा और अवसाद भरता है,
मेरा निराश डूबता मन
मुझी से करता है सवाल—
महापुरुष हुए तो क्या ?
और न हुए तो क्या ?
रावण एक मरा होगा,
आज हजारों जिन्दा हैं,
कंस एक मरा होगा,
आज हजारों जिन्दा हैं—
इन मौजूदा रावणों और कंसों की मौत कब होगी ?
हमेशा हमेशा के लिए इनकी मौत
कब होगी ?

□

२३

एक ही सत्ता

मैं ईश्वर में हूं,
ईश्वर मुझमें है ।
ईश्वर मुझसे अलग कुछ नहीं है,
मैं ईश्वर से अलग बहुत-कुछ हूं—
पर हम दोनों के मिलने से ही बनी है,
एक अखंड सत्ता,
और वह भी अविभाज्य—
जिसे कहते हैं चेतना,
उसी का दूसरा नाम है—मनुष्य,
हां मैं ही मनुष्य हूं,
और मैं ही ईश्वर ।

◻

कोड़ा

मैं नहीं,
मेरी कविता बोलेगी।

मैं जानता हूं—
तुम रोकना-टोकना चाहोगे उसे,
और घुड़कियां दोगे बन्दर की तरह,
मगर रोक न सकोगे।

मेरी कविता—
तुम्हारी डनलपी पीठ पर
जब कोड़े-सी बरसेगी तड़ातड़,
तो देखेगी दुनिया
कि तुम मेरी गरम राख पर खड़े खड़े
मेरी कविता के कोड़े से पिट कर
दांत पीसते उछल रहे हो।

तुम्हारा अपाहिज गुस्सा
यह अमीराना प्रतिहिंसा
खोजना चाहेगी मुझे,
मगर, मैं यह मानकर चलता हूं

कि मैं कवि कवि हूं,
इसलिए अपनी भीतरी आग से जलकर
पहले से खाक हो चुका हूं,
जिस पर तुम खड़े खड़े उछल रहे हो,
चन्द लमहों बाद धराशायी होने को।

□

२५

अग्नि-पुरुष

ठहरो,
सोचलो अंजाम
फूल पर हाथ बढ़ाने का।

इस फूल में आग होती है,
जो तोड़ने पर भभक जाती है—
गरज यह कि
फूल खुद तो जलेगा ही,
तुम भी खाक हो जाओगे।

ठहरो,
सोचलो अंजाम
फूल पर हाथ बढ़ाने का।

फूल में नाग रहता है
जो छूते ही फूंकारता है,
इसलिए सावधान—
यह प्यारा-सा फूल भयानक है,
जहरीला है, सुन्दर है, क्यामत है,
मौत का मीठा-सा बुलावा है,
फूल के रूप पर लट्टू न बनो,

वरना फूल में बसनेवाला नाग
डस लेगा,
और तुम जीवन भर तड़पते रहोगे,
इसलिए सोचलो अंजाम,
फूल पर हाथ बढ़ाने का।

□

सर्च लाइट

हरे-भरे खेतों में खड़े
कान-पूंछ हिलाते
भोले-भाले चौपायों की नहीं,
मुझे—
उन दो पगे जानवरों की तलाश है,
जो बिना मेहनत किए, डनलप के पलंगों पर
डकारें लेते, टांगें पसार कर पड़े रहते हैं।

काम-केन्द्रों में कला ढूंढनेवाले ढोंगी
खजुराहो के बाहरी पत्थरों में नहीं,
मंदिरों के भीतर घुसकर
घण्टे हिलाते-दर्शन का अभिनय करते,
ध्यानमग्न मां-बहनों की चोली में नजरें गड़ाते मिलेंगे—
मैं गुस्से से तमतमाती
लाल सर्चलाइट लिए घूम रहा हूं,
उन दो पगे निकम्मे जानवरों को ढूंढ रहा हूं।

बहुमंजिली इमारत के वातानुकूल कमरे में
दो-दो हजार की नरम चेयर्स पर बैठे मवेशी,
घास नहीं, मेहनत चबाते है,

पसीना पीते हैं,
और फिर पैसा हंगते हैं ।

वैसे कोई ज्यादा नहीं,
करोड़पति हों या अरबपति—
हर देश में मुट्ठी भर मंगते हैं
जो करोड़ों स्वाभिमानी मेहनतकशों का
खून पीजाने की साजिश किए बैठे हैं,
ऐसे ही भेड़ियों की तलाश में,
गुस्से से तमतमाती—
लाल सर्चलाइट लिए घूम रहा हूं ।

भूख से बिलबिलाते भारत की छाती को चमन मान,
चैन से टहलनेवालों को
चून की इन्तजार में जलते चूल्हे की लकड़ी से पीटना होगा,
अब महाभारत उलट रहा है मेरे युधिष्ठिर,
आज के दुर्योधनों को बल से नहीं,
कूटनीतिक छल से जीतना होगा,
क्योंकि—
कांटे से कांटा निकलता है,
लपटों से घी पिघलता है,
ऐसा दो पगा, बहुरूपिया जालिम जानवर
अवसर अजगर या भेड़िये का रूप लेकर

इन्सानों के झुंड के झुंड निगलता है,
उस बहुरूपिए जानवर की तलाश में
गुस्से तमतमाती लाल सर्च लाइट लिए घूम रहा हूं,
गलियों में, गांवों में,
कस्बों और शहरों में,
गुस्से से तमतमाती लाल सर्च लाइट लिए
घूम रहा हूं,
उन दो पगे निकम्मे जानवरों को ढूंढ रहा हूं ।

□

२७

अहम्

अपने ही अहं में जीता मनुष्य
कितना दयनीय है
कितना बेबस है ?
एक निरीह घोंघे-सा
रेंगता हुआ वह नहीं जानता,
किस वक्त उस पर टूट पड़ेगी—
मौत की बिजली,
और वह अपने अहं के साथ चिन्दी-चिन्दी होकर
हवा में उड़ जायगा—
फटती सुरंग से उड़ती धूल की तरह,
तब उस महाकाल की गर्जना
कौन सुनेगा,
जिसकी आवाज करोड़ों के अहंकार से
ज्यादा भयानक है।

□

महान् पाठक

एक पृष्ठ,
एक वर्ष—
पढ़ा, न पढ़ा
उलट दिया उस पाठक ने।

मैं पुस्तक हूं,
मेरे रोमों के अक्षर
बराबर पढ़ती है—एक तेज आंख;
आखरी पृष्ठ आते ही,
फटाक् से बंद कर देगा मुझे
वह अज्ञात महान् पाठक,
और धर देगा किस अनजानी आलमारी या शेल्फ में,
नहीं मालूम।

□

२८

मौत एक अर्द्धविराम

वही होता है
जो होना होता है,
तुम्हारे हमारे झींकने से
कुछ नहीं होता।

सौन्दर्य हो या पौरुष—
सबका आखरी नतीजा है मौत
और मौत का पहला तकाजा है—
सौन्दर्य की पौरुष से भेंट—
चाहे वह क्षणिक ही हो।

किसी की किसी से भेंट
कभी आकस्मिक नहीं होती,
पूर्वनियोजित होती है,
जो हँसता है खी-खी कर आज
उसे कल रोना है,
और जो रो रहा है अभी
वह कल हँसेगा—
आशा ही बनती है निराशा,
मंगल हो या अमंगल,
दोनों का मूल्य बराबर है;

शुभ और अशुभ की तुलना
तराजू में मेंढ़क तौलने के बराबर है,
एक पकड़ोगे तो दूसरा निकल जाएगा;
दूसरे को थामोगे तो तीसरा उछल जाएगा ?

जीवन—
रोने-हँसने का एक वाक्य है,
जिसमें कोई विराम नहीं लगता;
मौत, सिर्फ एक अर्द्ध विराम है,
जो धीरे से लपक कर हमें
आगे ठेल देती है—
महाशून्य में।

□

३०

असमाप्त यात्रा

धमन भट्टी से निकले
लाल लोह-खंड जैसा प्रचंड सत्य
हम क्यों नहीं ढूंढ़ पाते ?
बस हर कदम स्वयं को झुठलाते जाते है ।

नीम की पत्तियां रगड़कर
कटोरा भर पीलेने से
जिन्दगी की कड़वाहट नही पी जाती,
दर्शन बघारने से अगर
दुनिया के राज खुल गए होते
तो निश्चित था
कि वर्तमान पीढ़ी के घड़ सिर-विहीन होते,
मगर कुकुरमुत्ते के छत्र-सा मौजूद है हमारा सिर,
इसीलिए तो सिरदर्द जारी है.
सचमुच हमारी बेसिर-पैर की यह सिर-यात्रा भारी है

रहस्य के घटाटोप अंधेरे में
सदा से हम और हमारे पुरखे,
तर्कों के हवाई मुक्के मारते आए हैं,
उल्लू भी ज्यादा खुशनसीब है,
जो अमावस की स्याह रात में

अपना लक्ष्य ढूंढ़ लेता है,
किन्तु भक्ष्य में उलझे हम लोग—
कब और कहां लक्ष्य पाते हैं ?
हम तो बस खाते हैं, पीते हैं, सोते हैं,
और गाते हैं सपने में चन्द गीत मादा के नाम,
और अंत में—
मटके-सा सर लटका अरथी पर
मरघट तक चले जाते हैं।

वक्त का सफेद बगुला
जब हो जाता है सर पर सवार,
तो फौरन हमें मछली में बदल जाना पड़ता है,
निष्ठुर मृत्यु-बोध
बिच्छू के दंश-सा आखरी सवाल करता है—
धरोहर में प्राप्त
कुदरत के अनमोल खजाने का तुमने क्या किया ?
तो जवाब में हम
आंखों की खोखल से पानी बहाते हैं।

भाषा, गणित और विज्ञान—
सब खेल हैं प्रतीकों के ?
किसी दूसरी नीहारिका की संभावित पृथ्वी से
कोई अनजाना अंतरिक्ष यात्री आकर बताए

तो मानें
कि हमारे माथे की उपज इन प्रतीकों से—
वास्तविक सत्ता का कितना मेल है?
वरना तो अब तक का सारा चिन्तन ही,
मनगढ़न्त ठेलमठेल है,
सदियों पुरानी रपटीली गैल है,
भयंकर भुलावों की खूबसूरत जेल है।

कोठी में भरे अनाज के मानिन्द
हमारा अवचेतन
दृश्यों, बिम्बों और प्रतीकों से अटा पड़ा है,
जब कभी—
कंठ से या कलम से बेखबर कुछ दाने बिखर जाते हैं,
तो मानो किसी जबर्दस्त भुलावे के नशे में हम
रचना का सुख पाते हैं,
लगता है,
या तो हमें छकाता है कोई छिपकर
या फिर स्वयं के साथ औरों को छकाते हैं,
मैं पूछता हूं—
निकलकर अपने मस्तिष्क के किले से हम
भला कब-कहां बाहर जाते हैं?
जाते भी हैं यदि, माना,
तो जाना भी क्या सचमुच जाना है?

या हमारे कपटी मस्तिष्क का ठगीला तराना है ?
जाना, छूना, फेंकना और देखना—
माथे के विद्युत-सेलों में स्वयं को सेंकना है ।

तर्कों का जंगल है
शब्दों के पेड़,
बिम्बों की हरियाली
चरती मन-भेड़
सिर मानो डमरू है मदारी के हाथ,
मदारी दिखता नहीं, अनपेक्षित बात ?
दुर्गम है दुर्गम इस जीवन का मर्म,
हम सबके हाथों में लाठी-सा कर्म—
मारो या तारो
खुद को या औरों को,
अपने अपने मन-माफिक चिन्तन का धर्म ।

देह की बन्दूक में
प्राणों की एक गोली,
बैठाना है लक्ष्य पर,
बुद्धि क्यों डोली ?
शब्द की लोह-प्राचीरों से
कस कर सर टकराने से जो लहू गिरता है,
उसे अभिव्यक्ति कहते हैं,

वैसे भी रुधिर का लाल रंग
मोहभंग करता है,
वासना के रेशमी उत्संग में डुबोकर हमें
अनासक्ति के दर्शन से दंग करता है।

पर, शब्द-माया से रुधिर-भाषा
सत्यतर है,
शब्द पर शंका,
लहू पर विश्वास, बृहत्तर है।

अक्सर फुसलाता है शब्द लहू को
बीमा एजेण्ट-सा सब्ज बातों में
कभी आजाता चक्कर में वह
तो कभी बिलकुल नहीं आता,
और सहज भाव से
वासना के खरतर प्रवाह में बहता चला जाता है।

शब्द ही यों सिर हमारा
शब्द ही पैर,
न शब्द सचमुच सिर है,
न शब्द सचमुच पैर।

महज बेसिर-पैर की चिन्तन-यात्रा
किए जा रहे हम,
जाने क्यों, यों—
ज्यों-त्यों
जिए जा रहे हम ?

□

३१

सुबह : एक संभावना

थरथराती आधी रात,
अलसाया बेड-रूम
नाम-कढ़े तकिये पर
औंधाया उपन्यास—
उमंगों का मखमली परिवेश खुलता है,
चूहल से बतियाता
नीला डिसटेम्पर,
जीरो का हरा बल्ब
जलता है......जलता है......
खिड़की के परदे से
ठिठोली करती हवा
चांदनी का नन्हा-सा टुकड़ा
पलंग पर पसरे लापरवाह—
चटकीले आंचल पर चुपचाप छोड़ जाती है,
शेम्पू की महक दहकी,
खुले बन्ध ...... देह-गन्ध.......
बेड-रूम बोझिल है—
अन्तर्मुख साधक-सा
सांसों में ध्वनित छन्द
बजती जल-तरंग—
सुबह एक संभावना। □

३२

जुलूस

अहंकार के झण्डे,
काले हाथों में लिए
उजली पोशाकवालों का आता है जुलूस
हुमकता हुआ,
नारे लगाता—
जिन्होंने जन-सेवा का व्रत ठाना है।

आकाश कांपता है,
धरती सिसकती है
गांव की समस्याओं के खिलाफ
राजधानी में प्रदर्शन है,
वायुयान से पहुँचकर,
यहां आलीशान मंच पर फूलमाला से लदे,
कहने आए हैं पीड़ा अपने भाषण में उन किसानों की
जो बैलों के अभाव में,
जंग लगे हल के पास घुटनों पर हाथ धरे बैठे हैं।

□

२२

पेट

धरती पर जमानत पर छोड़ा गया हूं,
जान है गिरवी, भरम आजादी का,
जिन्दगी भी कतल के मुकद्दमे से कम नहीं,
गुनाह मेरा है यह—
कि इस धरती पर बगैर पूछे जनम क्यों पाया ?
और इलजाम है संगीन—
जब रोटी ही न थी यहां खाने को,
तो साथ अपने पेट लिए क्यों आया ?
मेरा इस दुनिया में जन्म
कतल का जुर्म है,
रोटी और साग नहीं मिलेगा मुझे,
आसानी से मिलेगा
तख्त पर झूलता वह फांसी का फन्दा,
जिसमें लटक जाना है मुझे
ताकि आयंदा रोटी की तलाश में भटकता हुआ मैं,
इस धरती पर बगैर पूछे जन्म न ले सकूं।

□

रोटी और आमाशय

बिलकुल गलत है उनका यह दावा
कि देह पर दिमाग का शासन है,
मैं प्रत्यक्ष महसूसता हूं
कि सर से पैर तक मेरे शरीर पर
आमाशय की हुकूमत है।

मेरी सारी इन्द्रियां
चलती और रुकती हैं उसी के इशारे पर।
यह दीगर बात है
कि मेरा आमाशय रोटी का मोहताज है,
और रोटी भी निगोड़ी
सत्ता के ऊंचे ताज में लटकी है,
जहां हमारे बौने हाथ,
आसानी से नहीं पहुँच पाते।

□

३५

मेरा देश

डीजल-पेट्रोल से
गंधाते-धुंधुआते फुटपाथ पर बैठा
मेरा बूढ़ा क्षयरोगी देश
रक्त-वमन करता है।

उधर से गुजरते किसी अफसर को
उबकाई आती है,
मुझे आता है तरस उसकी उबकाई पर,
और दूसरे ही क्षण धधक उठता है क्रोध,
जब देखता हूं
कि उस अपटू-डेट अफसर का
चमचमाता बूट
उस फैली हुयी खूनी उल्टी पर
अपनी निर्मम छाप छोड़ जाता है—
यह सब देख-सोचकर
मेरा विद्रोही मन
जाने कैसा-कैसा हो जाता है।

☐

क्षणान्तर

वह क्षण यह नहीं था
—सही है,
पर मैं वही हूं जिसने
प्रथम बार ज्वाला को बांहों में बांधा था,
और तब
दहक उठा था अंधकार,
आग को बांधनेवाला मैं,
कब खुद आग हो गया,
कह नहीं सकता।

वह क्षण तो वही रहा
जब आग से खेला था,
क्या होड़ करेगा उस क्षण की यह क्षण
जो महज उसकी राख लिए ढोता है।

□

३७

सुख-दुख

चुल्लू भर सुख
टोकरों भरा दुख,
सुख झूठा
और दुःख सच्चा,
मन मेरे,
क्यों होता है कच्चा ?

□

मेरा मन

शब्द जब उड़ते हैं परिन्दों-से
मन आकाश हो जाता है,
कष्ट जब गड़ते है शूहर-से
मन इस्पात हो जाता है,
आनन्द जब कभी गहराता है श्याम घटा-सा
मन मेरा शीतल जल धार हो जाता है।

बावली अभिलाषाएँ
उमड़तीं जब गोपियों-सी
मन मेरा नटखट घनश्याम हो जाता है,
शब्द जब उड़ते हैं परिन्दों-से
मन आकाश हो जाता है।

□

३९

बदले अहसास

गन्ध-मुकुट पेड़ों-सा झूमना छोड़कर
लोगों ने दर्द के शामियाने ताने हैं,
सुहागराती बिस्तर की सलवटें
पेशानी पर चिपकाए—
खुले आम फिरते हैं लोग......
मीठी अलसायी नींद में
एलार्म घड़ी-सी तीखी
चीखने लगती हैं जब ड्यूटी,
तो आमाशय का ऊंघता भोजन
चोट खाए सांप-सा फन उठा लेता है,
जहरीले व्यंग्यों का विनिमय कर सुबह-शाम,
चाय की चुस्कियों में खुदकशी होती है।

दो अदद काम्पोज
एक घूंट पानी से
हलक में उतार लोग
सपनों की रानी का घूंघट उठाते है,
हर सुबह—
प्रदूषण की स्याही से छाप देती है

आदमकद खबरें,
सड़कों के अखबार पर।

जन्म से बहरी व्यवस्थाएं
सन्नाटे बुना करतीं
मुस्कुराकर लोगों को अव्यवस्थित करती हैं—
प्यासे गांव के चौराहे पर
बिना हत्थे के हैण्ड पम्प-सी
बेकार जिन्दगी मजबूती से स्थापित है।

खड़ी मक्का के हरे खेत में पले
पवित्र प्यार का रेशा-रेशा
खाद के कलेण्डरों में विज्ञापित है,
पोस्टरों की शक्ल में बदले गए लोग
हालात की दीवारों पर चिपका दिए जाते हैं।

धूप के चश्मे-सा रंगीन विचार पहन लेने से
नजर की हकीकत नहीं मिटती,
जिन्दगी के जीने पर ताबड़तोड़ चढ़ने से
लुढ़क जाना, चोट खाना संभव है;
तरकारी में हींग की तरह घुल जाने से ही काम नहीं चलता,
वक्त पर ईंधन-सा जलना भी पड़ता है।

महंगे सोफे में धंसकर टांगें हिलाने से
फसल नहीं उगा करती,
शहर की सड़कों पर ठेलेवाले का पसीना
पेरिस के परफ्यूम से रोज शाम लड़ता है,
बीसवीं सदी का यह क्या अंत हो गया ?
आदमी, अफसोस,
आदमखोर हो गया ।

□

मिट्टी की चेतना

पूरे देश का कवि हो जाना
सरल है जितना,
उतना ही मुश्किल है
कवि का अपने देश में हो जाना।

खुशबू बन हवा में बिखर जाने से :—
अच्छा है,
मिट्टी बन जकड़लें हम जीवन को
हरे पौधे की जड़ में घुसकर
नीला फूल बन फूटनेवाली मिट्टी हो—
पगतली से माथे तक
आदमी का उजला इतिहास रचती है।

भावों के सावन में
आंसू की बाढ़ें हों,
या बुद्धि के तर्कान्धकार में
बिजली की साथें हों—
गंधमय धरती के आसरे तमाशे सब।

सूरज की जलती ज्वालामय गोदी से
किरण की रस्सी पर चुपचाप

उतरता है जब कोई
दिव्य चेतन अणु धरती पर
तब शायद हम भोजन के बाद
बिस्तर पर
अन्नमद से नशीली झपकी में होते हैं—
मनगढ़न्त गोते हैं सब आत्मा के
दीखता जो सब जगह जाता हुआ
पर वस्तुतः कोई कहीं नहीं जाता है।

एक निर्विकल्प सत्ता का
कल्पित घर है शरीर
कहने को, दिखने को
जैसा भी दिखता है।

पर सोचो सच,
ठीक देखो,
कहीं भी कुछ भी नहीं—
नहीं कुछ दन्द-फन्द
सर्वत्र एक अपरिणामी चेतनता जगमग है,
फूटती जो सलीके से प्रतीकों में
मानव की वाणी बन
गेहूं की वाली बन
गुलाब की डाली बन

पानी में शीतलता, पत्थर में दृढ़ता बन ?
रोम रोम धरणी का
जाग्रत है, चेतन है,
जड़ता यदि है कहीं तो
बस वह नजर में है।

□

८१

जूते का सिंदूर

सावन के सजल काले बादलों में
चमकता
बिजली का सिंदूर
प्रकाशित करता है वह
अंधेरे के गाढ़े जूतों पर लगे
कीचड़ को।

अकड़ू अंधेरा
उसके रूखे गंदे जूते
अहंकार में
रौंदें या ठुकराएं धरती को
मगर उपलब्धि तो
केवल कीचड़ है।

जबकि,
सूरज की साक्षी में
लंबी तपस्या से प्राप्त
पराग का कोमल गंध-कोष
खोलकर बिखेरती है कमलिनी
कदमों में तिर धुनते कीचड़ पर

क्योंकि सवाल नियति का नहीं
भावना का है।

अंधेरा घना हो कितना ही
भटके वह आवारा रात भर
निर्दय बेपरवाह
लौ तो रहेगी जलती निश्कंप
सती-सी
सुहाग के झिलमिल कक्ष—
पूजा के घर में
प्रतीक्षा करती देवता की
जो राक्षस है।

नही खोलेगा बाहर वह
कीचड़ सने जूते
और घुसने से पहले
छूटेगी आशा तर्जनी-से
उठेगा नहीं, झुकेगा घूंघट
और बिखर जायगा सिन्दूर
उस जूते पर
जो दुनिया की गंदगी से
लिथड़ आया है,
बिखर जायगा उस पर वह सिन्दूर

जिसे खिलखिलाते कमरे के झिलमिलाते
दर्पण में
शरमाती अंगुलियों के लाल पोरों ने
मीठे सपनों की आशा में लगाया है।

यह अंधेरा है अंधेरा
जो उजले सिन्दूर के मीठे सपनों को
कहां से कहां ले आया है ?

□

तब क्या होगा ?

प्रतिभा
अगर है,
तो सर्वाधिक दुरुपयोग उसका
होता है राजनीति में,
जहां चढ़ते उतरते हैं भाव
बाजार में किसी जिन्स की तरह।

कागज में
निर्माण के साथ ही
घुस जाती है दुरंगी चाल
जो नोट से वोट खींच लेने के हुनर में
व्यक्त होती है
बेरहमी से।

कला और साहित्य के भ्रूण-सच
होने लगे हैं विकसित
पारदर्शी टेस्टट्यूब में
प्रयोगशाला के धुंए-सा
फैल गया है जिनका भयानक बनावटीपन।

अंधेरे बंद तहखाने में
अकेले चूहे की तरह
हम बेमतकव भटकते हुए
सीलन लगी ईंटों का फर्श
कुरेदते रहते है ।

कालेज की चहकती लड़कियों के बीच
चाय पीना
संवेदना की निजता को जगाता तो है
मगर,
आत्मवंचना की गुत्थी का
कोई समाधान नहीं देता।

गंदी गली में
बीमार कुत्ते-सी
मुंह लटकाए घूमती है
आज की आबोहवा,
कि रेलवे स्टेशन पर खड़ा वह पेड़
जिसके पत्तों पर जमा है
धूल और धुंए का अंबार
पर्यावरण खिल्ली उड़ाता
एक मूक साक्षी ।

बेकार है यह भी प्रमाणित करना
कि आजकल हम
जहर ही निगलते और उगलते हैं,
अचंभा है तो यही
कि हम ऐसे और वैसे
जीवित हैं।
जीवित हैं तभी तो सोचते हैं
कि भावी पीढ़ी का क्या होगा ?

होगा क्या ?
जब एक केपसूल
हमारे सप्ताह भर की भूख,
और लजीज भोजन के
गंधोष्ण स्वाद को अनावश्यक कर देगा,
और चलेगा तब कंप्यूटर से
इस्पाती जिस्म और जज्बात का
वह रोबोट
हमारे भावाकुल प्यारे घर में,
तब क्या होगा ?

बच्चों के झूले से
बूढ़े की लाठी तक को संचालित करेगा

कंप्यूटर
और घर के सदस्य
देखते होंगे टी. वी.
किसी अंतरिक्ष क्लब में बैठकर
अंतर्ग्रहीय प्रक्षेपास्त्रों का अद्भुत खेल ?
तब क्या होगा ?

□

मनुष्य के पक्ष में

बोलने में देवता
बरतने में जानवर
इस बोलने और बरतने के बीच
ढूंढता है—
शायद होने मनुष्य को।

हद हो गयी अफीमखोरी की
नशे की अपनी अपनी झोंक में
गुड़कनेवाले हैं सब नशेबाज
कि जिनके रक्त में छटपटाता
आखिर मनुष्य एक
सावधान होकर
फिर उठकर खड़ा होना चाहता है।

हमारे खून से सनती और
होती, गाती और गांवों में
हर बार उजड़ होती है,
हम कहीं हंसते कभी खुद पर या गैरों पर
यह तो और है
जो दर्द के रेशमी जमीन पर टहलती
रस्ता कलेजा उछालकर हंसती है।

यह हँसना भी हमारा
रोने से बदतर है,
सुख में ताकत नहीं कि हंसा सके,
और दुःख की हिम्मत नहीं कि रुला सके
अगर विवेक का अभेय कवच हो तो।

इस विवेक की ही तो कथा है लम्बी
अजेय और अंतहीन,
जो न हंसी की तोप से फटी है
न दुःख की बाढ़ में गली आज तक।

समय धोखा है,
फरेब है दिशाओं की कल्पना
एक मिठबोला ठग बैठा है शास्त्रों में
शब्द की बोतल में भरा है जहर
तर्क का
जिस पर लेबल है "सत्य" का
क्या है यह सत्य ?
मिला है कभी किसी को
निचाट नचाट नग्नता से ?
नहीं चाहिये पोशाकधारी सत्य कोई भी,
झूठ के विपक्ष में खड़ा सत्य
एक बड़ा झूठ है अपने में।

कैसा कमजोर है वह सच
जो झूठ की वजह से खड़ा हो,
झूठ हटालो,
गिर जायगा ?
अब खारिज करना होगा
ऐसे परंपरित सच के सिलसिले को,
सच की खोज शब्दों में,
बालू से तेल निकालने का निष्फल हठ है।

खोजना ही है
तो खोजो उस मनुष्य को
जो हम सब के भीतर
जिन्दा होकर भी गायब है।
उस गुमशुदा मनुष्य को जब ढूंढ़ लोगे
तो मिल जायगा उसके भीतर बैठा
वह सच,
जिसकी सबको तलाश है।

हमारे बढ़ते नाखून साक्षी है
उस संक्रमण के
जो भेड़िए से मनुष्य होने को
भयानक प्रक्रिया है
खून में छिपा भेड़िया

नाखून बढ़ाता है
किंतु मनुष्य का सजग विवेक
बराबर उसे काटता जाता है
आएगा वह दिन भी जरूर
जब समाप्त हो जाएगी गतिविधि
नाखून बढ़ने की ।
फिलहाल,
यह धोखेबाज़ समय का जादू है
जो मनुष्य और नाखून का
हिंसक द्वन्द्व लिए चलता है
धरती की हथेली पर ।

× × ×

सभ्यता की मर्करी रोशनी का आतंक
रात भर लिखता है,
मानवता का काला इतिहास
फुटपाथ के मटमैले कागज पर,
जिसमें लिखी हैं—
मरियल घुटनों और सड़ियल कुहनियों की गंदी मात्राएं,
अधनंगी देहों के कांपते अक्षर,
चिथड़ों की कोमाएं,
जिसमें टंगे हैं बेशुमार,

कुपोषण के शिकार—
बच्चों के अनुस्वार,
घावों के नुक्ते,
बहता है जिनसे मवाद स्याही-सा
फुटपाथ के मटमैले कागज पर ।

काले इतिहास की यह अंधी लिपि
पढ़ेगा जब उजला भविष्य
वह कल का आनेवाला मनुष्य—
तो कब्र में भी हमारा निर्जीव चेहरा
शर्म से लाल हो जाएगा ।

बावली धरती के
गोरे-से कानों में
कुछ मनचले मूर्खों ने
टांग दिए हैं अणु बम झुमके
और बजा रहे तालियां
नाच की प्रतीक्षा में
भस्मासुर-से खड़े खड़े ।

वक्त की गहरी नदी के किनारे
खूंखार विचारों के घड़ियाल
घात लगाए बैठे हैं,

आचरण के बच्चे को समूचा निगल जाने को।
अल्हड़ धरती की लरजती कमर पर
अपनी मौत को तलाशती फिसल रही है,
जिनके हाथों में छलकते जाम है झाग वाले
कि मदिरा नहीं,
तीसरी दुनिया को निचोड़कर निकाला गया
लाल-नीला लहू भरा है।

यायावर पूर्वजों के पराक्रमी पांवों ने
खींचे थे कभी देशों के नक्शे
चिनवायी थीं सत्ता की दीवारें
उठीं और धूल में समा गयीं वे
जाने कितनी सरकारें –
जो पेट का कचरा पांवों पर डालकर
अपने को "स्वच्छ" समझती आयी है।

क्रांतियों में झुलसता लंबा रेगिस्तान
जनता के नाम,
और फल-फूल लदी क्यारी
किसी भाग्यशाली के घर की खेती है,
यह दंतकथा नहीं,
आंखों देखी घटना है –
कि सैंकड़ों प्राणियों की आंतें निगलने वाली

गिद्ध-पत्नी,
अपने दो-चार अंडों को सेती है,
हरी-भरी क्यारी के चारों ओर
उस चालाक भाग्यशाली ने
लगवादो है मजबूत बाड़
कानून के कांटों की
और खड़े कर दिए हैं कुछ
खोखली आशाओं के हरे-पीले लैम्प
जो झुलसते रेगिस्तान में
ठंडी रोशनी फेंक सकें,
और जनता के विद्रोही पहाड़
बाड़ की आड़ में
घमंडी मुस्कान से देख सकें।

इस तरह,
यह भयानक जादू है नए वक्त का,
कि हरी क्यारी में लाश फूल गयी है मनुष्य की,
और प्राण उसके तड़पते है
बाड़ के उस पार
तपते रेत में,
अब तोड़नी होगी वह बाड़,
जड़ से उखाड़नी होगी,

प्राणों से देह को जोड़कर
एक बार फिर से
जीवित मनुष्य को
खड़ा करने के पक्ष में ।

□

४४

मिश्र के पिरामिड में बन्द हवा

पिछवाड़ा
प्रायः उतना साफ नहीं होता
जितना कि आंगन
क्योंकि,
जन्म लेने पर स्वागत
और मरने पर विदाई की
एक आदिम विसंगति
हमारे साथ निरंतर है।

यह भी चिंतनीय है आखिर
कि बहुसंख्यक पत्तियों की अपेक्षा
कतिपय फूलों को
हम अधिक महत्व देते हैं
क्योंकि सुगन्ध का स्वार्थ
हमारे भीतर
भूगर्भ की चट्टानों-सा
परत-दर-परत जमा है।

पुराने बरगद के
खुरदरे तने-से

हमारे भुरभुरे विचार
रेशमी हो सकते हैं—
जब उद्यत हों हम अन्तःकरण से
बीमार पड़ोसी की दवा लाने को।

शास्त्र के चक्कर मे
रोज गाय का पवित्र दूध पीकर
निरामिष होने का सात्विक भ्रम
बढ़ाता रहेगा
बूचड़खाने और मत्स्य-भण्डार
जहां मुर्गी और मनुष्य में
कोई खास फर्क नहीं होता।

कुछ मुर्गे
और उनके ही कुछ साथी
डकार जाते हैं सबके हिस्से का दाना
तो अजीर्ण से पहले ही
उन्हें खुले कत्लखाने में
सहजता से काट दिया जाता है।

नैतिकता
कितनी पुरानी दन्त-कथा—सी
मिश्र के पिरामिड में बंद हवा की तरह
हमारे दिमाग में कैद है,

उसके आजन्म कारावास को
न तो नकारा जा सकता है
और न लाया ही जा सकता है उसे
व्यवहार में ।

बाहर की हवा
हवा जो ठहरी
चलती रहती है तरह तरह की
उतारते रहते हैं विषधर केंचुल
किसी एकान्त खंडहर के पत्थरों में
और खुदती रहती हैं नींवें
बहुमंजिला इमारतों की,
सिर उठाए गाती हैं चिमनियां
धुंए के जाल लहराकर
और सृष्टि के इस विराट यंत्र में फंसा
गतिशील मनुष्य
जबर्दस्त इस्पाती गोले-सा
गड़गड़ाता रहता है ।

अब डर नहीं लगता
कि घुग्घू की आड़ में
आ बैठी है मौत
हमारी छत पर,

क्योंकि—
वैज्ञानिक की भयानक उंगलियों से त्रस्त मौत
ढूंढ़ती है उपाय
टेस्टट्यूब में बन्द होने से बचने का।

जरूरत है अब
तोड़ा जाय 'मिश्र के पिरामिड' को
ताकि फराऊन के वक्त की बासी हवा
आज की ताजा हवा से मिलकर
पोंछ सके—
मनुष्य के पांवों को
जो, उसकी अनथक यात्रा के कारण
पसीने से भीगे है।

□